ARYAVART SHODH VIKAS PATRIKA
RNI TITLED NO. UPBIL04292
RNI REG. NO. UPBIL/2014/66218
PP. No.- 100-102
ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-16, No.- III, Issues-29, YEAR- July-Sept.-2023

मछुआरा समाज के दर्द, शोषण और संघर्ष की गाथा : वरुण के बेटे

डॉ0 निशान्त मिश्रा
सहायक प्रोफेसर– हिंदी विभाग, राजकीय महाविद्यालय, मौंट–मथुरा (उ0प्र0), भारत

Received-29.07.2023, Revised-05.08.2023, Accepted-10.08.2023 E-mail: dr.nishant11mishra@gmail.com

सारांश: *वैद्यनाथ मिश्र उर्फ 'नागार्जुन' हिंदी साहित्याकास के वो सूर्य हैं, जिनसे ऊर्जा प्राप्त करके रचनात्मक लेखन करने वालों की एक लंबी परंपरा रही है। सूर्य की भाँति हमेशा उनके अंदर एक आग जलती रहती थी। आग जो दीन–दुखियों, निरीहों और उपेक्षितों के शोषण के प्रति प्रज्जवलित होती थी और उस शोषण–चक्र को भष्म कर देने की ईप्सा में आप्लावित भी होती रहती थी। इसे हम उनके उपन्यासों में बखूबी देख सकते हैं। उनके प्रत्येक उपन्यास में नए समाज की आकांक्षा और उसकी प्रतिष्ठा का संकेत मिलता है। वे पुराने सड़े हुए समाज के कुंभीपाक को समाप्त कर देना चाहते हैं और नए समाज की रचना करना चाहते हैं। अपने इसी मंतव्य के निहितार्थ उन्होंने सन् 1967 ई. में 'वरुण के बेटे' शीर्षक उपन्यास की रचना की और देश का ध्यान मछुआरा समाज के शोषण, संघर्ष और दमन की ओर आकर्षित किया। उपन्यास के पन्नों को पलटने के साथ–साथ मछुआरा समाज के जीवन के विभिन्न पहलुओं से भी हम परिचित होते जातें हैं। उनका रहन–सहन, रीति–रिवाज, वेषभूषा, शोषण, संघर्ष इत्यादि पृष्ठ दर पृष्ठ उभरता जाता है।*

कुंजीभूत शब्द– शोषण–चक्र, आप्लावित, कुंभीपाक, मछुआरा समाज, आकर्षित, रीति–रिवाज, वेषभूषा, शोषण, संघर्ष, खुरखुन।

उपन्यास का प्रारंभिक पृष्ठ ही हमें मछुआरा समाज के उस श्रममूलक परिदृश्य से रूबरू करवाता है जिसमें वे विकट सर्द मौसम में भी हाँड़–माँस की संपूर्ण ताकत के साथ मछली पकड़ने का कार्य करते हैं। 'खुरखुन' और 'भोला' उपन्यास के दो ऐसे ही पात्र हैं जो घुप्प अंधेरें और कड़ाकें की सर्दी में भी इलाकें के प्रख्यात जलाशय 'गढ़–पोखर' में मछली संग्रहण हेतु कठिन परिश्रम करते हैं। पहले तो वे केले के कटे हुए सॉत–ऑठ मोटे–मोटे थंभों से बनी नाव से पचास एकड़ जमीन में फैले हुए 'गढ़–पोखर' जलाशय के बीच में पहुँचते हैं। तत्पश्चात् मछलियों का चारा फेंकते हैं। चारा देख मछलियाँ नजदीक आती हैं और तब – "बदन की समूची ताकत कलेजे में बटोरकर भोला ने बिजली की फुर्ती से बाँह घुमाई, मूठ खोलकर जाल पानी में फेंक दिया।" [1] जाल में मछलियाँ बड़ी मशक्कत के बाद आयीं, जिन्हें लेकर दोनों घर को रवाना हुए। इस मशक्कत में ही 'खुरखुन' के दाहिने पैर का अँगूठा बुआरी मछली ने काट खाया था।

घर पहुँचने पर हमें मछुआरा समाज के उस परिवेश का परिचय प्राप्त होता है जिसमें बहुसंख्यक मछुआरा आबादी रहने को अभिशप्त है। 'खुरखुन' के तेरह फुट लंबे और नौ फुट चौड़े घर में ही उसका सारा संसार समाया हुआ था। जब वह घर पहुंचता है तो – "पुआल बिछे थे कोने में, उन पर फटी–पुरानी बोरी बिछी थी। एक जवान लड़की और नंग–धड़ंग बच्चे बेतरतीब सोए पड़े थे। ओढ़ना के नाम पर कथरी–गुदड़ी के दो–तीन छोटे–बड़े टुकड़े उन शरीरों को जहाँ–तहाँ से ढक रहे थे। दूसरे कोने में चूल्हा–चौका। तीसरे में अनाज रखने के कूंड और कुठले। चौथा कोना खाली।" [2] दरअसल, यह परिस्थिति उस व्यवस्था की देन हैं जिसमें शारीरिक श्रम करने वाले को हीन समझा जाता है। फलस्वरूप शारीरिक श्रम करने वालों को बहुत ही कम पारिश्रमिक प्राप्त होता है। जिससे उनका किसी तरह पालन–पोषण हो पाता है। स्वस्थ एवं गुणवत्ता पूर्ण पालन–पोषण तो दूर की कौड़ी है।

और इस पारिश्रमिक को प्राप्त करना भी उनके लिए आसान नहीं होता। तरह–तरह के अवरोधों से उनका सामना होता है। पहला तो जिस पोखर या जलाशय से वे अपनी आजीविका ग्रहण करते हैं, उन पर जमींदारों का प्रभुत्व होता है जो मनमाना बंदोबस्त उनसे वसूल करते हैं और दूसरा, मछलियों के खरीद–फ़रोख्त के दौरान विभिन्न सरकारी कर्मचारियों के द्वारा भी उनका शोषण भिन्न–भिन्न रूपों में किया जाता है। मछली संग्रहण के बाद उसको बाजार में बेचना आजीविका ग्रहण करने का अनिवार्य चरण होता है। इस चरण की प्रक्रिया में मछुआरे क्रमशः चुंगी मास्टर, स्टेशन मास्टर, बुकिंग क्लर्क एवं रेलवे गार्ड इत्यादि को पैसे या मछली के रूप में रिश्वत देने के लिए बाध्य होते हैं और शोषित होते हैं। उपन्यास के पात्र 'भोला' और 'खुरखुन' भी जब अपनी मछलियों के विक्रय हेतु दरभंगा जंक्शन के लिए निकलते हैं तो उन्हें भी 'चमुड़िया स्टेशन' के बुकिंग क्लर्क के द्वारा इसी प्रकार के शोषण का शिकार होना पड़ता है। क्लर्क रेहू मछलियों के लालच में उनकी मछलियों की बुकिंग में टाल–मटोल करने लगता है। 'भोला' क्लर्क की नीयत को समझ जाता है और – "आखिर रेहू का ढाई–तीन सेर वज़न का बच्चा देना ही पड़ा, तब जा कर दोनों खाँचे बुक हो पाए और चालान की रसीद हासिल हुई।" [3]

इस प्रकार शोषण के चक्कों में पिसकर न घर–गृहस्थी ही सहे ढर्रे पर चल पाती है और न ही सामाजिक जीवन। घर के नाम पर जहाँ प्रायः होता है घास–फूस का छप्पर, वहीं गृहस्थी के नाम पर होती है न्यूनतम टूटी–फूटी वस्तुएँ और अभावों का ढेर। ऐसा उपन्यास में स्पष्ट रूप से चित्रित है। उपन्यासकार के अनुसार – "मलाही–गोंढ़ियारी में मछुओं के तीस–पैंतीस परिवार थे। खानेवाले मुंगों की तादाद तेजी से बढ़ रही थी। भोला की श्रेणी के सम्पन्न–सुखी गृहपति इनमें दो ही तीन थे। अधिकतर मछुए खुरखुन की हैसियत के थे।" [4] और 'खुरखुन' की हैसियत यह थी कि न ही उसके पास आवश्यकता के अनुरूप घर ही था और न ही मुक्कमल गृहस्थी। "भीतों का एक घर, एक मड़इया, दो ओर से फूस का घेरा। यही तो हुआ घर–आँगन।" [5] और गृहस्थी के नाम पर – "खजूर के पत्तों से बिनी मामूली–सी दो चटाइयाँ। एक बिछी थी, दूसरी लपेटकर कोने में रखी थी। पीतल का पिचका लोटा, अलमुनियम की लुंज थाली। बाकी बर्तन–बासन मिट्टी के।" [6] इस प्रकार के त्रासदायक और अभावपूर्ण जीवन का मौसम पूरे समय उस पर छाया

अनुरूपी लेखक/संयुक्त लेखक

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-16, No.- III, Issues-29, YEAR- July-Sept.-2023

रहता है। केवल परिवर्तित होता है तो समय, परिस्थिति नहीं।

और यह समस्या केवल बिहार के मछुआरों की ही नहीं है अपितु भारत के प्रायः सभी राज्यों के मछुआरों की है। इस समस्या की गूँज को 'तकषी शिवशंकर पिल्लै' के मलयालम भाषा में रचित 'चेम्मीन'(1956ई.) शीर्षक उपन्यास में और 'उदयशंकर भट्ट' द्वारा हिंदी भाषा में रचित 'सागर, लहरें और मनुष्य'(1956ई.) शीर्षक उपन्यास में भी सुना जा सकता है। जिसमें क्रमशः केरल के तटवर्ती प्रदेश के मछुआरों और मुंबई के बरसोवा क्षेत्र के मछुवारों के जीवन का चित्रण किया गया है। रहन–सहन की दृष्टि से दोनों उपन्यासों का अध्ययन हमें इस तथ्य से साक्षात्कार करवाता है कि उपन्यास के प्रायः सभी पात्र घर–गृहस्थी के समुचित संसाधनों के अभाव में ही अपना गुजर–बसर करते हैं। कभी–कभी तो कठिन परिश्रम के बावजूद भी दो जून की रोटी का प्रबंध नहीं हो पाता है। इस संदर्भ में कई मार्मिक प्रसंग 'चेम्मीन' उपन्यास में दर्ज हैं, जिसका हिंदी भाषा में 'मछुआरे' शीर्षक से 'भारती विद्यार्थी' जी ने अनुवाद किया है। उपन्यास के पृष्ठ 49 पर समुद्र में 'पोला' आने का प्रसंग है जिसमें पानी लाल हो जाता है। इसे लोग समुद्र–माता के ऋतुमती होने का लक्षण मानते हैं। ऐसे समय में कोई मछलियाँ मारने समुद्र में नहीं जाता। फलस्वरूप आजीविका की समस्या उत्पन्न हो जाती है और कई घरों में भूखों रहने की नौबत आ जाती है। लोग अपने पास की उपयोगी चीजों को बेचकर या कर्ज लेकर किसी तरह जीवन निर्वाह करते हैं। 'चेम्पन' और 'चक्की' उपन्यास के ऐसे ही पात्र हैं जिनके पास 'नल्लम्मा' अपना फूल का गिलास, 'लक्ष्मी' अपनी बच्ची के कान का फूल एवं 'काली' अपनी फूल की कढ़ाई बेचकर दो जून की रोटी का इन्तजाम करती है। किंतु बावजूद इसके कुछ दिनों बाद – "शाम को चेम्पन जब खाना खा रहा था तब चक्की मोहल्ले वालों का समाचार यानी उनकी फाकाक्शी की कहानी सुना रही थी। उस दिन एक घर में भी चूल्हा नहीं जला था।" [7]

उपन्यासकार इन विकट परिस्थितियों के चित्रण के साथ ही, इन परिस्थितियों के कारकों को भी रेखांकित करता है। उसका स्पष्ट मंतव्य है कि असमानताजनक श्रम–मूल्य विभाजन को तात्काल प्रभाव से खत्म करने की सख्त जरूरत है और साथ ही आवश्यकता है उस वर्ग को भी कटघरे में खड़े करने की जो संसाधनों पर गैर–कानूनी ढंग से निजी स्वामित्व चाहता है। उपन्यास में इस तथ्य को भलीभाँति रूपायित किया गया है। जिस गढ़–पोखर पर मलाही–गोंढ़ियारी के मछुओं के तीस–पैंतीस परिवार पलते थे और वो भी बंदोबस्ती के कागजात के साथ, उन पर देपुरा के जमींदार के भाँजा द्वारा झूठा आरोप लगाकर दो सौ सत्तर मन मछलियों का निर्यात रोक दिया जाता है। बाद में जांच के दौरान कागजात को देखने से अंचलाधिकारी और दरोगा को यह पता चलता है कि – "पुश्त–दर–पुश्त गढ़पोखर से मछलियाँ निकालने का हक मलाही– गोंढ़ियारी के मछुओं का चला आया है। मालिक बदलता रहा है लेकिन असामी कभी नहीं बदले हैं।" [8] अर्थात् असामी, कागजात और जमीर दोनों ही स्तरों पर सही थे और जमींदार दोनों ही स्तरों पर गलत। यह केवल शोषण के लिए बुना गया जाल था जिसमें मछुआरे नहीं फँसते।

आगे चलकर उपन्यास में इसी शोषण के विरुद्ध और अपने हक़ के रक्षार्थ 'मछुआ–संघ' की स्थापना होती है जो कि 'गढ़पोखर हमारा है' का नारा बुलंद करता है। क्योंकि– "जमींदारी उन्मूलन के बाद देपुरा वालों का कोई हक नहीं रह गया था गढ़पोखर पर। यह विशाल जल–संपत्ति अब जनता की थी। मगर नौकरशाही भ्रष्टाचारों और कानूनी असंगतियों के चलते जन–जीवन के साथ बेतुका खिलवाड़ अब भी चल रहा था।" [9] इसी खिलवाड़ के विरुद्ध ही मछुआ–संघ अपना मोर्चा खोलता है और किसी भी स्थिति में अपने घुटने नहीं टेकता। न ही वह गढ़पोखर पर सतघरा के जमींदारों का प्रभुत्व ही स्वीकार करता है और न ही डिप्टी–मजिस्ट्रेट द्वारा मुचलका भरने की हिदायत ही। इस पर डिप्टी–मजिस्ट्रेट जब उन्हें अपना रौब दिखाता है तो वो बेझिझक जेल जाने को तैयार हो जाते हैं और स्वयं ही पुलिस वैन में सवार हो जाते हैं। इस आह्वान के साथ कि– "मछुआ–संघ जिंदाबाद ...हक की लड़ाई ...जीतेंगे ! जीतेंगे ! ... गढ़पोखर हमारा है, हमारा है ! ..." [10] इसी संघर्ष चेतना और जागरण के निमंत्रण के साथ उपन्यास का समापन हो जाता है।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहें तो उपन्यास के पृष्ठों से गुजरते हुए मछुआरा समाज के जीवन की धड़कन को न केवल बखूबी सुना जा सकता है अपितु उनके चेहरों की सिलवटों को भी पढ़ा जा सकता है। एक तरफ यदि उनके समाज के शोषण के बहुविध रूपों का चित्रण देखने को मिलता है तो दूसरी तरफ उस शोषण के विरुद्ध संघर्ष की चेतना के स्वर भी तल्ख रूप में मौजूद हैं । साथ ही परिस्थिति परिवर्तन के सूत्र भी उपन्यास में दर्ज हैं। उपन्यास का पात्र 'मोहन माँझी' इस परिवर्तन के सूत्रधार के रूप में उपस्थित होता है। वह लोगों से कहता है कि– "हम लोग मछुआ हैं, निषाद भाई हैं।

सहनी, मुखिया, खुनौट, सोरहिया, वाँतर, तीयर, जलुआ, माँझी ; खानदानी उपाधि किसी की कुछ है तो किसी की कुछ। मगर हैं फिर भी सभी निषाद। किसी युग में हमारी संख्या थोड़ी थी। उन दिनों केवल नाव चलाना और मछलियाँ पकड़ना हमारे पेशे थे । अब हमारी बिरादरी खेती भी करती है, मजदूरी भी। पढ़–लिखकर कुछ–एक भाई–बहन ऊँचे ओहदों पर भी पहुँच रहे हैं। समूचे भारत की बात छोड़ दें। बिहार को ही लीजिए। अपनी बिरादरी के सैकड़ों लड़के आम बिहारी लड़कों और दूसरे–दूसरे प्रदेश के प्रवासी लड़कों के साथ मिल–जुलकर स्कूलों–कॉलेजों में ज्ञान–विज्ञान हासिल कर रहे हैं। जात–पाँत की पुरानी दीवारें ढह रही हैं, नये प्रकार की विशाल बिरादरी उनका स्थान लेने आ रही है।" [11]

जरूरत इस नई बिरादरी से जुड़ने और नए पेशे अपनाने की है । साथ ही आवश्यकता है शिक्षित और प्रशिक्षित होने की भी। क्योंकि शिक्षित होने से शोषण के विरुद्ध जागरूकता और संघर्ष चेतना उत्पन्न होती है तो प्रशिक्षित होने से परंपरागत व्यवसाय को ही ढोने की बेबसी भी खत्म होती है । इसके साथ ही– "समाज के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने लोगों की सभी श्रेणियों की समस्याओं को समानुभूति के साथ देखे, आर्थिक असमानताओं तथा अन्याय की समस्याओं के समाधान ढूंढे, जन चेतना को व्यापक आयाम देने के कार्यक्रम चलाये।" [12] कहने का तात्पर्य यही है कि अतीत के अनेक परतों वाले पूर्वग्रहों को जड़ से उखाड़ फेंकना होगा तथा शोषण और आतंक की संरचनाओं को ढहाना होगा। उपन्यास इसी चेतना का संवेदनात्मक ढंग से प्रतिपादन करता है।

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-16, No.- III, Issues-29, YEAR- July-Sept.-2023

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. नागार्जुन (2003), वरुण के बेटे, दिल्ली, वाणी प्रकाशन, पृष्ठ संख्या – 8.
2. नागार्जुन (2003), वरुण के बेटे, दिल्ली, वाणी प्रकाशन, पृष्ठ संख्या – 13.
3. नागार्जुन (2003), वरुण के बेटे, दिल्ली, वाणी प्रकाशन, पृष्ठ संख्या – 15.
4. नागार्जुन (2003), वरुण के बेटे, दिल्ली, वाणी प्रकाशन, पृष्ठ संख्या – 20.
5. नागार्जुन (2003), वरुण के बेटे, दिल्ली, वाणी प्रकाशन, पृष्ठ संख्या – 45.
6. नागार्जुन (2003), वरुण के बेटे, दिल्ली, वाणी प्रकाशन, पृष्ठ संख्या – 80.
7. पिल्लै, तकषी शिवशंकर (1959), मछुआरे, भारती विद्यार्थी, (अनुवादक) नई दिल्ली, साहित्य अकादमी, पृष्ठ संख्या – 50.
8. नागार्जुन (2003), वरुण के बेटे, दिल्ली, वाणी प्रकाशन, पृष्ठ संख्या – 72–73.
9. नागार्जुन (2003), वरुण के बेटे, दिल्ली, वाणी प्रकाशन, पृष्ठ संख्या – 115–116.
10. नागार्जुन (2003), वरुण के बेटे, दिल्ली, वाणी प्रकाशन, पृष्ठ संख्या – 118.
11. नागार्जुन (2003), वरुण के बेटे, दिल्ली, वाणी प्रकाशन, पृष्ठ संख्या – 38.
12. दुबे, श्यामाचरण (1985), भारतीय समाज, वंदना मिश्र, (अनुवादक) नई दिल्ली, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, पृष्ठ संख्या – 126.

*****